

लोकतांत्रिक प्रणाली एवं उदारीकरण

डॉ० देवी प्रसाद श्रीवास्तव

पी०डी०एफ०, जे०एन०वी० यूनिवर्सिटी, जोधपुर

सारांश पिछली शताब्दी का अन्तिम दशक भारतीय राजनीति में खास मायने रखता है। इस दौरान वे तीन परिघटनायें खुलकर सामने आ जाती हैं, जिनका अंकुरण पिछले एक दशक से बनता आ रहा था। ये हैं :साम्प्रदायिकता, उदारीकरण-वैश्वीकरण और प्रगतिशील राजनीति का गतिरोध। तीनों परिघटनाएं अलग-अलग न होकर एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। कहा जा सकता है कि पिछली दो परिघटनाओं ने एकजुट होकर देश की प्रगतिशील राजनीति का तेज हर लिया है। ये परिघटनाएं केवल राजनीति तक सीमित नहीं हैं। उनका हमारे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अर्थात् समग्र राष्ट्रीय जीवन पर गहरा और दूरगामी असर पड़ा है। भारत वैश्वीकरण-उदारीकरण की चाल पर कायम है। देश के राष्ट्रपति को सौंपे गए करोड़ों लोगों के हस्ताक्षरों, देश भर में फौले बीमा कर्मचारियों के प्रतिरोधात्मक आन्दोलन और कई राजनैतिक पार्टियों के नेताओं के लोकसभा से बहिर्गमन के बावजूद बीमा-विनियमन एवं विकास प्राधिकरण विधेयक पास हो गया। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के तेजी के सामने भाजपा के राष्ट्र प्रेम की चमक भी मलिन पड़ती दिखी। बीमा विधेयक पास होने पर राष्ट्रभक्ति की नई परिभाषा भी मानो 'पास' हो गई है। सभी जानते हैं कि ज्यादातर अंग्रेजी मीडिया उदारीकरण का पक्षधर है और पक्षधरता के उसके तर्क अक्सर वस्तुनिष्ठता से रहित और एकांगी होते हैं। अंग्रेजी मीडिया ने बात साफ कर दी है जो उदारीकरण के पक्ष में है वह राष्ट्र-हितेशी है और जो विरोध में है वह राष्ट्रविरोधी। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी जी से कुछ उम्मीद नजर आती है जो देश की प्रगति हेतु विभिन्न नये प्रयोग कर रहे हैं जिसके अन्तर्गत जापान चीन अमेरिका इंग्लैण्ड तथा नेपाल जैसे देशों को भारत में व्यापार हेतु आमंत्रित किया तथा 'सबका साथ सबका विकास', 'मेक इन इंडिया', डिजिटल इंडिया जैसा नारा दिया तथा देश को अन्य विकसित देशों की कतार में खड़ा करने का प्रयास किया। माननीय प्रधानमंत्री जी द्वारा उदारीकरण के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र को सीमित करके निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने हेतु उत्पादन प्रक्रिया में सुधार लाने, आधुनिक टेक्नोलॉजी को आत्मसात करने तथा उपलब्ध क्षमताओं का भरपूर प्रयोग करने हेतु लाइसेन्स प्रणाली को सरल बनाने के लिए कई महत्वपूर्ण योजनाओं को अमली जामा पहनाया गया उनका अन्य देशों से विभिन्न योजनाओं की सफलता हेतु सम्पर्क उनके सराहनीय कदम हैं।

मुख्य बिन्दु-

1. भारत, वैश्वीकरण-उदारीकरण की तरफ।
2. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के तेजी के सामने भाजपा के राष्ट्र प्रेम की चमक।
3. बीमा विधेयक का पास होना और राष्ट्रभक्ति की नई परिभाषा।
4. समाजवादी विचारक किशन पटनायक।
5. वर्तमान में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी जी।

Reference to this paper should be made as follows:

डॉ० देवी प्रसाद
श्रीवास्तव

लोकतांत्रिक प्रणाली एवं
उदारीकरण,

RJPP 2017, Vol. 15,
No. 3, pp. 48-54
Article No. 7 (RP584)

Online available at :
[http://anubooks.com/
?page_id=2004](http://anubooks.com/?page_id=2004)

पिछली शताब्दी का अन्तिम दशक भारतीय राजनीति में खास मायने रखता है। इस दौरान वे तीन परिघटनायें खुलकर सामने आ जाती हैं, जिनका अंकुरण पिछले एक दशक से बनता आ रहा था। ये हैं :साम्प्रदायिकता, उदारीकरण-वैष्ठीकरण और प्रगतिशील राजनीति का गतिरोध। तीनों परिघटनाएं अलग-अलग न होकर एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। कहा जा सकता है कि पिछली दो परिघटनाओं ने एकजुट होकर देश की प्रगतिशील राजनीति का तेज हर लिया है। ये परिघटनाएं केवल राजनीति तक सीमित नहीं हैं। उनका हमारे सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अर्थात् समग्र राष्ट्रीय जीवन पर गहरा और दूरगामी असर पड़ा है। सिएटल में आयोजित वार्ता का दौर भले ही फेल हो गया हो और तत्कालीन प्रधानमंत्री को उस पर अफसोस हो, भारत वैष्ठीकरण-उदारीकरण की चाल पर कायम है। देश के राष्ट्रपति को सौंपे गए करोड़ों लोगों के हस्ताक्षरों, देश भर में फेले बीमा कर्मचारियों के प्रतिरोधात्मक आन्दोलन और कई राजनैतिक पार्टियों के नेताओं के लोकसभा से बहिर्गमन के बावजूद बीमा-विनियमन एवं विकास प्राधिकरण विधेयक पास हो गया। कुछ देर तक समर्थन के बदले बोफोर्स चार्जसीट से स्वर्गीय राजीव गाँधी का नाम हटाने की जिद करने के बाद कांग्रेस ने अपने कुछ 'संशोधन' मनवाकर अन्ततः 'रचनात्मक' विपक्ष की भूमिका निभा दी। भारत में उदारीकरण के जनक मनमोहन सिंह का स्मरण करें। सबसे पहले, वे नरसिम्हा राव के जमूरे बनकर राजनैतिक मंच पर उतरे थे, फिर सीताराम केसरी ने उन्हें उतारा और फिर वे सोनिया गाँधी के बगलगीर रहे। ये मनमोहन सिंह ही थे, जिन्होंने भारतीय सरकार की वैधता को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सन्दर्भ में आँकने की कसौटी रखी थी। देवगौड़ा जब प्रधानमंत्री थे, तो उन्होंने कहा सरकार की नीतियों-वर्तमान दौर में नीतियों से आशय केवल नई आर्थिक नीति रह गया है, इसमें और संकुचन आ जाता है, जब आर्थिक नीति से आषय विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की आर्थिक नीति होता है-के चलते बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में अनिश्चय का भाव बना हुआ है। यानी सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ निःशंक होकर अपना व्यापार चला सकें। मनमोहन सिंह की मान्यता के आर्थिक पहलू की बात न करके, राजनैतिक पहलू की बात करें, जो काफी उद्घाटक था। उस समय केवल राजनीति की प्राथमिकता की जगह अर्थनीति ले रही थी, बल्कि भारत सरकार की वैधता का प्रतिमान भी उलट रहा था। सरकार की वैधता की परख अब इस देश और समाज के सन्दर्भ में न होकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सन्दर्भ में रह गया था। विश्व-व्यवस्था का 'स्वप्नद्रष्टा' भारत सरकार के स्थानीय वैधता के प्रतिमान से चिपका नहीं रह सकता। दरअसल, मनमोहन सिंह का प्रतिमान उनकी विचारधारा की पूर्ण संगति में था। अगर यह मनमोहन सिंह का अकेला और निजी प्रतिमान होता, तो उतनी चिन्ता की बात नहीं होती। चिन्ता तब होती थी जब एक के बाद एक आने वाला प्रधानमंत्री और वित्तमन्त्री उसी प्रतिमान के तहत सरकार की वैधता सिद्ध करने की तत्परता दिखाता रहा। इस प्रतिमान के विरोध की जहां सम्भावनाएं थीं वहां से भी मजबूत प्रतिरोध खड़ा नहीं हो पाता। मार्क्सवादी सहयोग-विरोध की द्वन्द्वात्मकता में फँसकर रह जाते थे और नई चुनावी राजनीति के पुरोध पिछड़े और दलित नेता चुनावी जीत की लिप्सा में यह सोच ही नहीं पाते कि दलित और पिछड़े भारत के जाग्रत हो जाने पर भारत सरकार की वैधता का प्रतिमान क्या होगा और उसे कौन तय करेगा। वे अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय किस्म के मसलों में पड़कर अपनी 'लड़ाई' को

धीमा नहीं करना चाहते। इससे क्या कि वह केवल निजी नेतागिरी जमाने की लड़ाई करते ही दिखे।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के तेजी के सामने भाजपा के राष्ट्र प्रेम की चमक भी मलिन पड़ती दिखी । बस इतना ही सन्तोष बचा रहता है कि कैसी भी हो, हम सरकार में हैं । वैचारिक रूप से भाजपा की स्थिति दलित और पिछड़े नेताओं से भी पतली ठहरती थी भले ही 'थिंकटैंक' और 'सवर्णों का बल' उसके पास हो । दलित और पिछड़े नेताओं की सोच में आने वाला भारत भाजपा की सोच में आने वाले भारत से बड़ा था । बहरहाल, ध्यान देने की बात यह है कि अर्थनीति को गिरवी रखने का परिणाम राजनीति को गिरवी रखने में निकलने लगा है, जिसकी चिन्ता किसी भी राष्ट्रीय नेता या पार्टी को नहीं व्यापती । दरअसल, यह मुख्य धारा राजनीतिक की चाल की संगति में ही है । अलबत्ता साम्राज्यवाद ने जरूर अपनी चाल उलट दी है: पहले उसने राजनीति पर कब्जे के बाद अर्थनीति पर कब्जा किया था, अब अर्थनीति पर कब्जा करके राजनीति पर कब्जा जमाने की योजना चल रही है । इसका प्रमुख कारण तो यही है कि यह 'रिमोट कंट्रोल' का जमाना है । लेकिन साथ ही विश्वविजेताओं को लगता होगा कि 1857 और 1942 जैसे जनान्दोलनों को सीधे झेलने से बचा जाए । 'भूखे लोग लड़ते हैं' मार्क्स का यह कथन उन्हें अभी भी डराता होगा—भूख केवल पेट की नहीं, आत्म और राष्ट्रीय सम्मान की भी । लिहाजा नव-उपनिवेश में ही एक ऐसा एलीट तबका स्थापित कर दिया जाए, जो कार्यवाही को अंजाम दे और विरोध को खारिज करे, न हो तो उसका दमन करे । इस एलीट तबके में शामिल भारतीय अंग्रेजी मीडिया की भूमिका पर ध्यान दिया जा सकता है, जिसका अनुकरण कुछ भाषायी पत्रकार भी अपने नेता या पार्टी के दबाव में करते हैं ।

बीमा विधेयक पास होने पर राष्ट्रभक्ति की नई परिभाषा भी मानो 'पास' हो गई है । सभी जानते हैं कि ज्यादातर अंग्रेजी मीडिया उदारीकरण का पक्षधर है और पक्षधरता के उसके तर्क अक्सर वस्तुनिष्ठता से रहित और एकांगी होते हैं । नई अर्थनीति विषयक उसका चिन्तन और समर्थन गरीब भारत की चिन्ता से प्रायः मुक्त होता है और इस सच्चाई से कौन इनकार करेगा कि भारतीय उपमहाद्वीप में गरीब भारत की व्याप्ति अमीर भारत के मुकाबले हजारों—हजार गुना ज्यादा है और उसकी समस्याएँ भी । इधर सरकार गिरने और चुनाव होकर फिर बनने की अंग्रेजी मीडिया की नजर में 'बेजा'—प्रक्रिया के चलते उदारीकरण की रफतार कुछ धीमी हो चली थी । चुनावों के दौरान सभी पार्टियों के नेताओं को वोट की मजबूरी में गरीब भारत के बीच भी जाना पड़ा था और उसके कल्याण की भी कुछ बातें कहनी पड़ी थी । अमीर भारत के 'संरक्षण' में जुटे संरक्षणवाद विरोधी अंग्रेजी मीडिया को यह सब बड़ा नागवार गुजरा था । लिहाजा, उसने बीमा विधेयक के मामले में आक्रामक और अन्धा रूख अपनाया, ताकि उदारीकरण की रफतार को फिर से तेजी प्रदान की जा सके । उसने मनमोहन सिंह की 'लाइन' पर बीमा विधेयक के साथ राष्ट्रहित का वास्ता जोड़ते हुए उसे पास करने वालों को राष्ट्रभक्ति की परीक्षा में पास और विरोध करने वालों को फेल घोषित कर दिया है । शुरू में कांग्रेस की नानुच को उसने सीधे राष्ट्रविरोधी करार दिया । जैसे ही कांग्रेस ने विधेयक के पक्ष में मत बनाया, वैसे ही अंग्रेजी मीडिया की नजर में

कांग्रेस राष्ट्र की हित-साधक पार्टी हो गई और सोनिया गांधी सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय नेता । अंग्रेजी मीडिया ने कांग्रेस के भीतर विधेयक के विरोध में उठने वाले स्वरो को दबा कर पार्टी को विधेयक के पक्ष में लामबन्द करने के लिए सोनिया गाँधी के नेतृत्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । उसे विश्वास है कि सोनिया गाँधी इसी तरह 'पार्टीगत हितों' से ऊपर उठकर राष्ट्रीय स्तर का आचरण करती रहें, तो वह उसे राष्ट्रीय नेता बना देगा । सोनिया गाँधी ने भी समझ लिया होगा कि नित-नूतन चाहने वाला अमीर भारत, जब

भाजपा की राष्ट्रभक्ति से ऊब जाएगा, तो अंग्रेजी मीडिया राष्ट्र-भक्ति की बागडोर उनके हाथ में थमा सकता है।

अंग्रेजी मीडिया ने बात साफ कर दी है जो उदारीकरण के पक्ष में है वह राष्ट्र-हितैषी है और जो विरोध में है वह राष्ट्रविरोधी। राष्ट्रभक्ति के अपने इस मानक के निर्धारण में अंग्रेजी मीडिया किसी बहस की गुंजाइश छोड़ने को तैयार नहीं है। हालांकि, इसके बावजूद वह लोकतन्त्र-विरोधी होने का आक्षेप बरदाश्त नहीं कर सकता। लोकतन्त्र (अभिजात-तन्त्र) की उसकी अपनी परिभाषा है, जिसे वह सभी पर लादना चाहता है और विरोध करने वालों को 'पार्टीजन' कह कर खारिज कर देता है। दूसरे शब्दों में, जो लोकतन्त्र बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हितों से वैधता हासिल करने को तैयार नहीं है, वह अंग्रेजी मीडिया की परिभाषा में लोकतन्त्र नहीं है। उसके लिए लोकतन्त्र वही है जो उदारीकरण की तानाशाही स्वीकार करके चले। प्रेस को लोकतन्त्र का चौथा खम्भा कहा जाता है। जाहिर है, अंग्रेजी मीडिया अपने को 'अभिजात-तन्त्र' का चौथा खम्भा मानता है इस अभिजात-तन्त्र में हड़ताल या प्रतिरोध के अन्य तरीके 'ब्लैकमेलिंग' करार दिए जाते हैं। पिछले दिनों ट्रक चालकों की देशव्यापी हड़ताल को 'इंडियन एक्सप्रेस' के प्रधान सम्पादक शेखर गुप्ता ने एक टीवी चैनल पर खुलेआम ब्लैकमेलिंग कहा था। जो न सुन पाए हों, उन्हें पढ़ाने के लिए अखबार के सम्पादकीय में भी यह मान्यता दोहरा दी गई थी। बीमा क्षेत्र के कर्मचारी लम्बे समय से आन्दोलन की राह पर हैं। अन्य क्षेत्रों के कर्मचारी भी अपनी माँगों को लेकर समय-समय पर प्रदर्शन और हड़ताल आदि करते हैं। किसान और अन्य उत्पादक कामों में जुटे समूह भी बीच-बीच में आन्दोलित होते रहते हैं। जाहिर है, अंग्रेजी मीडिया की नजर में उन सभी का आन्दोलन राष्ट्रविरोधी ठहरता है।

धर्मनिरपेक्षतावादी पार्टियों को जब सत्ता मिलती है, तो वे भी उसका 'उपयोग' अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का हुक्म बजाने में ही करती है। उनमें भी मनमोहन सिंह के प्रतिमान खरा उतरने की बेताबी होती है। गरीब भारत विरोधी उदारीकरण के विरुद्ध सच्चे और सार्थक विचारों आन्दोलनों की उपेक्षा यह जताकर की जाती है कि अगर सरकार अस्थिर की जाएगी तो भाजपा आ जाएगी, जो साम्प्रदायिकता के साथ उदारीकरण भी जारी रखेगी। वैसे में उदारीकरण का विरोध करने वाले गैर-राजनैतिक समूहों और बौद्धिकों को अपने से कुछ नई युक्तियाँ सोचनी होंगी, ताकि सारा उद्यम और ऊर्जा बेकार न चले जाएँ और इक्कीसवीं सदी में अन्ततः अवसाद और हताशा का बोध न घेर ले। इस समस्यात्मक विषय पर गम्भीर विचार-विमर्ष चलाने की जरूरत है, जिसके नतीजे में साम्प्रदायिकता और उदारीकरण को एक साथ निश्चिन्त करने वाली विचारधारा और कार्यक्रम पाया जा सके। सिएटल में विश्व व्यापार संगठन की बैठक पर हुए प्रतिरोध का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए कि उससे विकासशील देशों के उदारीकरण विरोधी संगठनों के लिए क्या सार्थक सूत्र हासिल किए जा सकते हैं।

समाजवादी विचारक किशन पटनायक ने लिखा है : 'पिछले दिनों दो राष्ट्रीय संकटों का उदय हुआ है एक तारीख है जुलाई 1991, दूसरी तारीख है दिसम्बर 1992। यह दोनों घटनाएं भारत के भविष्य के लिए निर्णायक साबित होंगी। जुलाई, 1991 की वजह से भारत सरकार ने पहली बार स्पष्ट और बेहिचक होकर उदारीकरण तथा जगतीकरण की आर्थिक नीतियों को अपनाया। इसी से देश को फिर से आर्थिक रूप से गुलाम होने का भविष्य निकलता है। पिछले दिनों बहुत से लोगों के मुंह से यह बात निकली है

कि देश फिर से गुलाम हो रहा है। गुलामी की बात को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उससे अपना ही अपमान होता है। यह कहना उचित होगा कि सरकार और संसद गुलाम हो गई। मनमोहन सिंह के वित्तमन्त्री होने के बाद से जितनी बार बजट पेश हुआ है, वे सारे बजट बाहर से निर्देशित हैं। संसद इसलिए जुड़ती है कि संसद में अभी तक कि राजनैतिक दल ने नई आर्थिक नीतियों का, गैट सन्धि का डटकर विरोध नहीं किया है। 6 दिसम्बर की घटना से जो चिन्ता बनती है, वह है राष्ट्र के अस्तित्व के बारे में। क्या भारतीय राष्ट्र टिका रहेगा? गुलामी की जकड़न से जो टूट और विभाजन पैदा हो सकता है, उसका कारण बाह्य है, लेकिन एकता और अखंडता को बनाए रखने वाली जो अन्दरूनी शक्ति हैं, जो राष्ट्रियता के नाम से जानी जाती हैं, उसके विभाजित और जर्जर हो जाने की आशंका 6 दिसम्बर और उसके बाद की घटनाओं से उत्पन्न होती हैं। उपनिवेशवाद या राष्ट्र की गुलामी से मुकाबले के लिए राष्ट्रियता ही भावनात्मक आधार है। देश की अखण्डता का भी यही आधार है। इसलिए राष्ट्रियता में दरार पड़ने के बाद गुलामी से लड़ पाना और अलगाववाद से निपटना भी कठिन हो जाएगा”।

इन दो संकटों के मद्देनजर पहले मनमोहन सिंह की चर्चा करें। इस बात पर देश खुश था कि मनमोहन सिंह काफी पढ़े-लिखे थे वे अर्थशास्त्र के अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर थे और उनका उठना-बैठना हमेशा पढ़े-लिखे लोगों में रहा है। उनकी शराफत पर शायद ही कोई अंगुली उठा सके। दन्द-फन्द की राजनीति से उन्हें ऊपर माना जाता था। मन्त्री होने से पहले वे राजनैतिक व्यक्ति थे भी नहीं। लेकिन उन्हें तश्तरी में रखकर मन्त्रीपद और संसद की सदस्यता परोसे गए थे। उनके आर्थिक विचारों और निर्णयों पर जिनसे अमीर भारत की उत्तरोत्तर समृद्धि ही नहीं, गरीब भारत की बदहाली भी नथी थी— किसी भी पहले से जमें कांग्रेसी नेता ने अंगुली उठाने की हिम्मत नहीं दिखाई। उन्हें निर्विकल्प माना गया और वे रातों-रात अन्तर्राष्ट्रीय 'फीगर' बन गए थे। प्रतिभूति घोटाला उन्हीं के वित्तमन्त्री रहते प्रकाश में आया था। उसके बाद तो वित्तीय घोटाला का जैसे तांता लग गया। लेकिन प्रतिभूति घोटाले से लेकर आज तक, यानी काजल की कोठरी में इतने लम्बे समय तक रहकर भी वे बेदाग बादशाही का नाम पाए हुए हैं। जब तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष सीतारात केसरी उन्हें कांग्रेस कार्यसमिति में लेकर आए थे, तो चर्चा थी कि उनकी बेदाग बादशाही का लाभ पार्टी को दिलाने के लिए ही उन्हें वह महत्वपूर्ण दर्जा दिया गया है। वैसे में लोगों को यह स्वाभाविक अपेक्षा थी कि पढ़े-लिखे और साफ छविवाले मनमोहन सिंह पूर्व प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव सहित अनेक कांग्रेसी नेताओं के भ्रष्टाचार के सन्दर्भ में या कम-से-कम भ्रष्टाचार की सामान्य समस्या के संदर्भ में अपना सरोकार और विचार लोगों से साझा करते। भले ही यह चालू पैंतरा लेते कि सारा देश ही भ्रष्टाचार का अड़्डा बना हुआ है लेकिन मनमोहन सिंह जैसे नेताओं की नजर में लोगों और भ्रष्टाचार के मुद्दे के प्रति उनकी उद्विग्नता की कोई अहमियत नहीं होती। अहमियत होती है ऐसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं और अफसरों की जो उन्हें उच्च आसन पर बिठाते हैं। वे तो 'पॉलिसी मेकर' हैं। सिस्टम की खामियों का उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि वह उन्होंने नहीं बनाया है। सिस्टम अगर खराब है तो घोटाले का कोई निमित्त भी बनेगा। अतः वह दोषी कैसे हुआ ? हर्षद मेहता से लेकर नरसिम्हाराव तक मनमोहन सिंह को कोई भी व्यक्ति वास्तव में दोषी नहीं दिखा। उनकी नजर में सब 'सिस्टम' की खराबी थी। आदमी तो 'सिस्टम' का पुर्जा है, जो खराब 'सिस्टम' में खराब होगा ही। यह तो खैर भ्रष्टाचार की बात हुई, जिसे यहाँ एक गौण मुद्दा माना जा सकता है। काबिलेगौर और असली मुद्दा आर्थिक गुलामी का है। कहना न होगा कि इसकी शुरूवात किसी अनपढ़

नेता ने नहीं, पढ़े-लिखे मनमोहन सिंह ने की, जो अपनी टेक पर जमें रहे। निसःसन्देह आर्थिक-राजनैतिक गुलामी के संकट के लिए कई अन्य, विशेषकर बाह्य कारक भी जिम्मेदार रहे हैं, लेकिन उसमें मनमोहन सिंह की भूमिका 'ऐतिहासिक' मानी जाएगी।

मनमोहन सिंह को राजनीति में लाने वाले नरसिम्हाराव की ऊँची पढ़ाई-लिखाई का विरुद्ध भी पर्याप्त हो गया था। उन्होंने अपने राजनैतिक जीवन पर अंग्रेजी भाषा में एक आत्मकथात्मक उपन्यास की रचना की है, जिसके आधार पर उनकी लेखकीय प्रतिभा की सराहना भी हुई। लेकिन मनमोहन सिंह ने जहाँ भ्रष्टाचार को लेकर एक नए सिद्धान्तकार की भूमिका निभाई है, नरसिम्हाराव ने बड़ी सफाई के साथ उसके व्यवहार पक्ष को मजबूत किया। वह भी प्रधानमंत्री जैसे गरिमापूर्ण-अगर प्रधानमंत्री के पद के साथ यह विशेषण लगाना अभी भी जरूरी लगता हो-पद पर रहते हुए। अपनी सरकार बचाने के लिए किए भ्रष्टाचार के आरोप का सामना वे अदालत में जीवन भर करते रहे। फिर कहना पड़ेगा कि नरसिम्हाराव का भ्रष्टाचार यहाँ गौड़ मुद्दा है। असली मुद्दा वह दूसरा संकट है जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। बाबरी मस्जिद के ध्वंस में उनकी सहभागिता का कुछ हद तक खुलासा उन्हीं के सहयोगी रहे अर्जुन ने किया था। यदि अर्जुन सिंह के प्रमाण पुष्ट न भी रहें हों, देश का प्रधानमंत्री होने के नाते ध्वंस की जिम्मेदारी उन पर आयद होती है। वैसे भी साम्प्रदायिकता के मामले में कांग्रेस का दामन पाक-साफ नहीं कहा जा सकता। इस संदर्भ में भाजपा और कांग्रेस में यही फर्क रेखांकित किया जा सकता है कि भाजपा साम्प्रदायिक विचारधारा के सहारे बढ़ती है और मौका पड़ने पर सेकुलर युक्ति का सहारा लेती है, जबकि कांग्रेस सेकुलर विचारधारा के सहारे बढ़ती है और मौका पड़ने पर साम्प्रदायिक युक्ति का सहारा लेने में नहीं हिचकती। बताने की जरूरत नहीं है कि पंजाब में एक दशक तक कहर ढाने वाले साम्प्रदायिक उन्माद को शुरुआती आशीर्वाद कांग्रेस ने ही दिया था और अयोध्या में ताला खुलवाने व शिलान्यास करने की अनुमति भी उसी के नेतृत्व ने दी थी। लेकिन सेकुलर षक्तियाँ हैं कि साम्प्रदायिकता के संकट से निपटने के लिए अक्सर कांग्रेस का मुँह जोहती पाई जाती हैं। दिसम्बर 1992 के बाद सारे गैर-कांग्रेसवादी सेकुलर दलों की नियति कुछ वैसी ही थी। उस समय वे सभी भाजपा की साम्प्रदायिक उठान से भयभीत और हतोत्साहित होकर कांग्रेस के शरणागत हो गये। किसन पटनायक आगे लिखते हैं- "धर्मनिरपेक्षतावादी खेमे में केवल हम लोग थे, जिनको यह अनुचित लगता था कि भाजपा से आतंकित होकर कांग्रेस या दूसरे किस्म की साम्प्रदायिकताओं, जैसे संख्या-लघु साम्प्रदायिकता से समझौता किया जाय। हमारे दृष्टि में साम्प्रदायिकता अपने-आप एक बड़ी ताकत नहीं हो सकती है, अगर हम आर्थिक शोषण सामाजिक विषमता जैसे बुनियादी अन्यायों के खिलाफ एक राजनैतिक आन्दोलन को व्यापक और गतिशील कर सके हों"। उस समय के मध्यावधि चुनावों में भी सेकुलरवाद के प्रति निष्ठा बनाए रखने वाले दलों और नेताओं में उसी प्रवृत्ति का दोहराव देखने को मिला। खासकर स्थापित कम्युनिस्ट नेताओं ने साम्प्रदायिकता से बचने के लिए कांग्रेस के दामन में मुँह छिपाया और वैसी ही सलाह दूसरों को दी। कितने ही वामपंथी विचारकों ने कांग्रेस की धर्मनिरपेक्ष विरासत की दुहाई दे डाली। उससे संकट का समाधान न होना था, न कभी आगे होने की सम्भावना थी।

अब वर्तमान में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी जी से कुछ उम्मीद नजर आती है जो देश की प्रगति हेतु विभिन्न नये प्रयोग कर रहे हैं जिसके अन्तर्गत जापान चीन अमेरिका इंग्लैण्ड तथा नेपाल जैसे देशों को भारत में व्यापार हेतु आमंत्रित किया तथा 'सबका साथ सबका विकास', 'मेक इन इंडिया', डिजिटल

इंडिया जैसा नारा दिया तथा देश को अन्य विकसित देशों की कतार में खड़ा करने का प्रयास किया। माननीय प्रधानमंत्री जी द्वारा उदारीकरण के अर्न्तगत सार्वजनिक क्षेत्र को सीमित करके निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने हेतु उत्पादन प्रक्रिया में सुधार लाने, आधुनिक टेक्नोलॉजी को आत्मसात करने तथा उपलब्ध क्षमताओं का भरपूर प्रयोग करने हेतु लाइसेन्स प्रणाली को सरल बनाने के लिए कई महत्वपूर्ण योजनाओं को अमली जामा पहनाया गया उनका अन्य देशों से विभिन्न योजनाओं की सफलता हेतु सम्पर्क उनके सराहनीय कदम हैं।

पूर्व में जिन राजनैतिक संकटों की आम धारणा का जिक्र किया गया है, उसके संबंध में यह कहा जा सकता है कि देश में राजनैतिक संकट राजनीति में पढ़े-लिखे लोगों के अभाव के चलते पैदा होते हैं। दो विद्वान नेताओं की राजनैतिक भूमिका के इस संक्षिप्त विप्लेशन के बाद यही लगता है कि वैसी धारणा एक मिथ्या ही है। आजादी से अब तक राष्ट्रीय स्तर के प्रायः सभी नेता अच्छे पढ़े-लिखे रहे हैं। जिन नेताओं की ऊँची यानी अंग्रेजी पढ़ाई-लिखाई नहीं होती, वे जनबल, धनबल या बाहुबल के सहारे अगर राष्ट्रीय स्तर तक पहुँच भी जाएं, तो उनका आसन वहां देर तक जमा नहीं रहता। सवाल दरअसल कोरी पढ़ाई का नहीं, उसके उपयोग की दृष्टि का है। शिक्षा के मौजूदा स्वरूप पर अनेक प्रश्नचिन्ह हैं लेकिन दृष्टि अगर पूरी आबादी की भलाई के मद्देनजर बनाई जाए और वहीं टिकी रहे, तो राजनैतिक संकट को दूर करने की दिशा में बहुत हद तक सार्थक परिणाम हासिल किए जा सकते हैं।

सदर्भ सूची

1. सम्पादक राज कपिला / उमा कपिला – भारतीय अर्थ नीति।
2. प्रेम सिंह – उदारीकरण की तानाशाही।
3. सम्पादक रवीन्द्र धनकड़ – भारतीय अर्थव्यवस्था।
4. राज किशोर – उदारीकरण की राजनीति।
5. आर० एस० यादव – भारत की विदेश नीति: एक विप्लेशन।
6. भारतीय अर्थव्यवस्था, प्रतियोगिता साहित्य सीरीज, साहित्य भवन, आगरा, वर्ष- 2011